AMOGHVARTA
ISSN : 2583-3189

स्वामी विवेकानन्द के दर्शन और शिक्षा के आयाम

ORIGINAL ARTICLE

Author
बिक्रम कुमार दास
शोधार्थी
शिक्षा विभाग, मानविकी एवं सामाजिक विज्ञान संकाय
साई नाथ विश्वविद्यालय
राँची, झारखण्ड, भारत

शोध सार

अच्छी शिक्षा राष्ट्र–निर्माण के सर्वश्रेष्ठ साधनों में से एक है। भारत का भविष्य भी काफी कुछ इसी बात पर निर्भर करता है कि उसकी वर्तमान पीढ़ी इस समस्या का हल किस प्रकार प्रस्तुत करती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि पाश्चात्य भावापन्न और पूर्णतः राष्ट्रविरोधी हमारी यह वर्तमान शिक्षा–प्रणाली आधुनिक भारत की पृष्ठभूमि से एकदम विसंगत है। यह तो हमें उन अँगरेजों की विरासत के रूप में मिली है, जिन्होंने हममें से कुछ लोगों को अपनी भाषा में इसलिए दीक्षित किया कि हम उनके कार्यालयों में विलक्षण यांत्रिक गति से कार्य कर सकें और शक्तिशाली ब्रिटिश साम्राज्य को दृढ़ता व संरक्षता प्रदान कर सकें पर समय में उल्लेखनीय परिवर्तन हो गया है, और आज हमें भीरु और प्राणहीन लिपिकों के स्थान पर ऐसे स्त्री–पुरुशों की आवश्यकता है, जो साहसी हों, कुशल और दक्ष हों, ऊँची भावनाओं से अनुप्राणित हों, स्वार्थ के संकीर्ण दायरे से उठे हुए हों, रचनात्मक अन्तर्दृष्टि से सम्पन्न हों। ऐसे स्त्री–पुरुष केवल जीविकोपार्जन करने अथवा कुछ बच्चों के भरण–पोषण में ही अपने आप को खपा देने के बदले, महत्तर उद्देश्यों के कार्यान्वयन में अपनी इच्छाशक्ति को दृढ़तापूर्वक नियोजित कर सकेंगे। स्वामी विवेकानन्द यद्यपि मानवमात्र के प्रेमी थे और संसार को धर्म की शिक्षा देनेवाले आचार्य थे, तथापि वे महान् देशभक्त और भारतीय जनता के अग्रगामी नेता भी थे। एक अज्ञात संन्यासी के रूप में भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक परिव्रजन करते समय उन्होंने उन बातों पर गहराई से विचार किया था, जो भारत के पतन में कारणस्वरूप रहीं थीं। अपनी मातृभूमि को सभ्य राष्ट्रों के बीच में फिर से पुरातन गरिमा और उत्कर्ष से मण्डित देखना उनकी हृदय की सर्वाधिक वेगवती इच्छा थी। उनके प्रेरणादायक संवादों में हम जीवन का कोई भी पक्ष ऐसा नहीं देखते, जो उनकी तीक्ष्ण मेधा और गम्भीर आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि के संस्पर्श से अछूता रहा और इन पक्षों में शिक्षा महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। भारतीय परम्परा के अनुसार जब–जब संस्कृति और सभ्यताएँ अधःपतित हुईं हैं, जब–जब मानवीय मेधा विभ्रमित और विमूढ़ हुई है, तब–तब जीवन की नई दिशाओं की ओर संकेत करने तथा मानव–हृदय में शक्ति और विश्वास की लहर भरने के लिए महान् मनीषियों का अवतरण हुआ है। स्वामी विवेकानन्द ऐसे ही एक मनीषी थे। उन्होंने स्पष्ट और कभी कभी लौकिक भाषा में पुरातन भारत से भी अधिक और महत्तर, अपने भारत की रूपरेखा प्रस्तुत की है। अतः आज, जब हमारा मन शिक्षा की समस्या से उद्वेलित है, यह उचित ही होगा कि हम स्वामीजी के शिक्षा–विषयक विचारों से परिचित होंगे क्योंकि हमारी पीढ़ी की इस ज्वलन्त समस्या पर स्वामीजी ने जो विचार प्रस्तुत किए हैं उनका अध्ययन हमारे बालकों की शिक्षा प्रणाली के नियोजन की दृष्टि से अत्यन्त लाभप्रद सिद्ध होगा।

मुख्य शब्द

शिक्षा, अध्यात्मिकता, अर्न्तदृष्टि, धर्म.

प्रस्तावना

स्वामीजी ने कहा है, ''शिक्षा मनुष्य के भीतर निहित पूर्णता का विकास है।'' मानव में अन्तर्निहित पूर्णता का विचार एक विशुद्ध वेदान्तिक धारणा है। इसकी उपलब्धि मानव–जीवन के स्तर और गौरव को अत्यधिक परिवर्धित कर देती है, इसकी स्वीकृति निष्ठा और आत्म–विश्वास की पहली सीढ़ी है और यह आत्म–विश्वास पौरुष एवं चरित्र का सार है। यद्यपि यह परिभाषा एक सार्वकालिक सत्य है और सभी लोगों के लिए प्रयोजनीय है, तथापि इस आधुनिक युग के लिए, जो अलगाव की वृत्ति, संकीर्णता और दलगत भावनाओं को मानवीय चिन्तना के विश्वास के पथ में व्यवधान स्वरूप समझता है, वह विशेष रूप से प्रयोज्य है। स्वामीजी पुनः कहते हैं, ''शिक्षा है क्या? क्या वह किताबी ज्ञान है? नहीं! तो क्या वह बहुमुखी ज्ञान है? वह भी नहीं। शिक्षा वास्तव में एक ऐसा प्रशिक्षण है, जिसके द्वारा संकल्प–शक्ति की अभिव्यक्ति को और उसके प्रवेग को सन्तुलित एवं लाभप्रद बनाया जाता है।''

स्वामी विवेकानन्द ने शिक्षा की सूक्ष्मताओं पर भी पूरी स्पष्टता से अपने विचारों को अभिव्यक्त किया है। मोटे तौर पर वे पाश्चात्य विज्ञान को वेदान्त के साथ समायोजित करना चाहते थे, क्योंकि उनका यह विश्वास था कि इस प्रकार दोनों के समाहार से ही विश्व में समृद्धि और शान्ति के युग का अवतरण होगा। विज्ञान के आधुनिक आविष्कारों ने जीवन के कठिन और अरुचिकर कार्यों को सुकर बना दिया, पर यांत्रिक उपकरणों की सहायता से मनुष्य ने जिस विशद् अवकाश की उपलब्धि की है, उसका उपयोग सही तरीके से नहीं हो सका है। मनुष्य को जीने के लिए विवेक और कष्टों को सहने के लिए धैर्य प्रदान करने के साथ, वेदान्त उसकी मनोगत आकांक्षाओं की तृप्ति भी कर सकता है और विश्व की नैतिक क्षयग्रस्तता का निवारण कर सकता है। जन–सेवा के लिए समवेत प्रयत्न से स्वार्थ और लोलुपता पर अंकुश लगेगा और मन की निरंकुश प्रवृत्तियों से उत्पन्न होनेवाली बुराइयाँ दूर होंगी। स्वामीजी ने कहा है, ''आज इस बात की आवश्यकता है कि हम वैदेशिक नियंत्रण से परे, स्वतंत्र रूप से, ज्ञान की उन विविध शाखाओं का अध्ययन करें, जो हमारी अपनी हैं। साथ ही, हम अँगरेजी भाषा और पाश्चात्य विज्ञान का भी ज्ञान प्राप्त करें। हमें तकनीकी शिक्षा तथा उन सब बातों की आवश्यकता है, जिनसे हम उद्योगों का विकास कर सकें और नौकरी ढूँढ़ने के बदले अपने पैरों पर खड़े रहकर इन उद्योगों के द्वारा जीविका के लिए यथेष्ट उपार्जन कर सकें तथा दुर्दिनों के लिए कुछ बचा भी सकें।''

वर्तमान समय में भाषा की समस्या हमारे देश की एक ज्वलन्त समस्या है। नयी व्यवस्था में अँगरेजी, अन्य प्रादेशिक भाषाओं और संस्कृत का क्या स्थान होगा? स्वामीजी के उपयुक्त उद्धरण से तथा उनके अन्य लेखों से ऐसा प्रतीत होगा कि उन्होंने वैज्ञानिक शिक्षा के माध्यम के रूप में अँगरेजी भाषा को महत्त्व प्रदान किया था। यद्यपि उन्होंने विशेष रूप से एक सर्वसामान्य भाषा की आवश्यकता का प्रतिपादन नहीं किया था, पर यदि हम उनकी शिष्या निवेदिता को उनके विचारों की सच्ची भाष्यकर्ती समझते हैं, तो हम कदाचित् उनके विचारों के स्थान पर निवेदिता के विचार ग्रहण कर सकते हैं। शिक्षा के द्वारा राष्ट्रीय अखण्डता कैसे लायी जा सकती है, इस पर विचार करते हुए निवेदिता ने अपने 'National Education in India' (भारत में राष्ट्रीय शिक्षा) नामक ग्रन्थ में लिखा है, यदि सभी मनुष्य एक ही भाषा में वार्तालाप करें, एक ही प्रकार से अपने विचारों को प्रकट करना तथा समान लक्ष्यों की अनुभूति करना सीखें, यदि सभी को समान शक्तियों के प्रति समान रूप से प्रतिक्रियाएँ प्रकट करना सिखाया जाय और उन्हें इसके लिए सक्षम बनाया जाय, तब तो हमारी एकता स्वयंभू बनकर प्रकट होगी और अटूट रहेगी।

प्रादेशिक भाषाओं और संस्कृत के विषय में स्वामीजी ने कई अमूल्य और विधेयात्मक सुझाव प्रस्तुत किए हैं। यद्यपि वे प्रादेशिक भाषाओं की संवर्धना के पक्ष को महत्त्वपूर्ण समझते थे, फिर भी वे दृढ़तापूर्वक संस्कृत की महत्ता को अन्य सभी तथ्यों की अपेक्षा अधिक मानते थे। प्रादेशिक भाषाएँ और संस्कृत भाषा जीवन के अलग अलग कार्यों की पूर्ति करती हैं, अतएव उनमें किसी भी प्रकार का विरोध नहीं है, किन्तु अन्य प्रादेशिक भाषाओं की अपेक्षा संस्कृत

भाषा की देन बहुत अधिक है। स्वामीजी कहते थे, ''संस्कृत की ध्वनि मात्र ही जाति को शक्ति, क्षमता और प्रतिष्ठा प्रदान करती है।'' रामानुज, कबीर और चैतन्य का उदाहरण देते हुए उन्होंने बताया कि यद्यपि इन महापुरुषों ने निम्नवर्ग को उपर उठाया, किन्तु उन्होंने संस्कृत विद्या का प्रसार नहीं किया। उन्होंने कहा, ''बुद्ध'' तक ने एक गलत कदम यह ले लिया कि उन्होंने जनता को संस्कृत भाषा सीखने के लिए उत्साहित नहीं किया। यदि आप प्रादेशिक भाषा में जनसामान्य को शिक्षा प्रदान करते हैं तथा विचारों से अवगत कराते हैं, तो वे केवल जानकारी ही प्राप्त कर पाएँगे पर केवल इतना ही यथेष्ट नहीं है। उन्हें संस्कृति भी प्रदान करने की आवश्यकता है। समाज भले ही विकसित और उन्नत हो जाय, पर जब तक जनसामान्य में संस्कृत भाषा का प्रसार नहीं किया जाता, तब तक समाज की विकसित अवस्था में स्थायित्व नहीं आ सकता।'' संस्कृत पुरातन विद्या का कोष है। वह मानवजाति के सबसे उदात्त विचारों की विग्रह है। जो व्यक्ति इसमें दीक्षित नहीं हैं, वे इसकी सशक्तता और गम्भीरता का तनिक भी परिचय नहीं पा सकते। यह हमें केवल हमारी प्राचीन महानता का ही ज्ञान नहीं करा सकती, अपितु हममें वह श्रद्धा और आत्मविश्वास भर सकती है, जो आज विदेशी प्रशासन और राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली के कारण जड़ से हिल गए हैं। भारतीय संस्कृति और संस्कृत एक दूसरे के पर्याय हैं।

हमें जीवन की जटिलता और दुर्वहनीयता के बीच में पड़कर अपनी कला को विस्मृत नहीं कर देना चाहिए। स्वामी विवेकानन्द इस विषय पर भी हमें अपना सुझाव देना नहीं भूले। वे कहते हैं, ''एशियावासियों की आत्मा ही कलामय है। एशियावासी किसी भी कलारहित वस्तु का उपयोग नहीं करते। ....कला हमारे धर्म का ही एक अंग है।'' उन्होंने चित्रखचित पात्रों, नयनाभिराम साड़ियों तथा कलात्मक धोतियों की ओर अपने श्रोताओं का ध्यान आकर्षित करते हुए उन्हें दीन–हीन कृषक की मिट्टी से बनी झोपड़ियों तथा अनाज रखने की कोठियों तक में कलाभिरुचि का दर्शन कराया और बताया कि हमारी स्थापत्य–कला किसी अनजान कारीगर के सपनों की प्रस्तरमयी विग्रह है। जैसे पश्चिम का आदर्श उपयोगिता है, वैसे ही भारत का आदर्श कला है। स्वामीजी का विचार था कि जापान में पश्चिमी उपयोगिता और भारतीय कला का सुन्दर समन्वय घटित हुआ है, जबकि भारत मूर्खतापूर्वक पाश्चात्य उपयोगितावाद के अन्धानुकरण का प्रयत्न कर रहा है। वे चाहते थे कि भारत में भी दोनों का सुन्दर समन्वय हो।

पूर्णतः धर्म–निरपेक्ष शिक्षा–प्रणाली का स्वामीजी ने अनुमोदन नहीं किया। उनका कथन था, ''हमारी शिक्षा, बुद्धि तथा हमारे विचार पूर्णतः आध्यात्मिक हैं, और वे सभी अपनी पूर्णता धर्म में पाते हैं। पश्चिम में उनकी अभिव्यक्ति बाहर हैं– भौतिक और सामाजिक स्तरों पर है।'' व्यक्ति के समान राष्ट्र की भी अपनी एक विशिष्ट प्रतिभा होती है और उसके विकास का एक विशेष मार्ग होता है। भारत में धर्म ही उसका प्राण–केन्द्र है। एक अवसर पर उन्होंने भविष्यवाणी की थी कि यदि भारत राजनीति के लिए धर्म का परित्याग करेगा, तो उसकी मृत्यु हो जाएगी। हमारी राष्ट्रीय परम्पराओं और मूल्यों की प्रवहमानता के प्रति स्वामीजी के प्रेम का उल्लेख करती हुई भगिनी निवेदिता अपनी "The Master as Saw Him" नामक ग्रंथ में लिखती हैं, ''स्वामीजी के लिए प्रत्येक नवीन वस्तु प्राचीन निवेदन के भाव से शुद्ध की हुई थी। भगवती सरस्वती का चित्र आँकना, स्वामीजी के मतानुसार, 'उसकी पूजा करना' था। चिकित्सा–शास्त्र का अध्ययन करना मानो 'घुटने टेककर रोग और मलीनता के पिशाचों के नाश के लिए प्रार्थना करना' था...। धार्मिक एकाग्रता की शक्ति के लिए मानवीय मेधा को उसकी चरम पूर्णता के स्तर पर पहुँचा देना, उनके विचार से, एक आवश्यक तत्त्व था। वे अध्ययन को तपस्या मानते थे और हिन्दुओं की ध्यानोन्मुखता को वैज्ञानिक अर्न्तदृष्टि की उपलब्धि में सहायक समझते थे।'' इस प्रकार शिक्षा स्वयं में एक साधना और धर्म का एक अंग है और स्वामीजी के विचार से धर्म निरपेक्ष और धर्मोपेत शिक्षा का अलग अलग रहना सम्भव नहीं है।

शारीरिक बल की अनिवार्यता

स्वामीजी शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक हर प्रकार के बल को जरूरी मानते थे। अतः वे शारीरिक व्यायाम की आवश्यकता पर जोर देना भी नहीं भूले। अपने शिष्य के साथ वार्तालाप में उन्होंने कहा था, ''तुम्हें शरीर को खूब शक्तिशाली बनाने की विधि जाननी चाहिए और दूसरों को भी इसे सिखाना चाहिए। क्या तुम नहीं देखते कि मैं अब भी डम्बेल्स के साथ व्यायाम करता हूँ? शरीर और मन दोनों को समान रूप से शक्तिशाली बनाना होगा।

... यदि लोगों को शारीरिक बल बढ़ाने की जरूरत समझा दी जाय, तो वे स्वयमेव उसके लिए प्रयत्न करने लगेंगे। इस आवश्यकता के बोध हेतु ही आज शिक्षा का प्रयोजन है।'' उपनिषद् कहते हैं, नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः –''दुर्बल व्यक्ति आत्मा का साक्षात्कार नहीं कर सकता।'' जबकि शंकराचार्य प्रस्तुत सन्दर्भ में 'बलहीन' का अर्थ 'ब्रह्मचर्यहीनता' मानते हैं, स्वामीजी ने कहा, ''शरीर से दुर्बल व्यक्ति आत्म–साक्षात्कार के योग्य नहीं है।'' स्वामीजी अपने देशवासियों को सशक्त और सबल स्त्री–पुरुषों के रूप में देखना चाहते थे और उन्होंने अनेक प्रसंगों में अपनी यह आन्तरिक इच्छा व्यक्त की है, ''मेरे तरुण मित्रो, बलवान बनो। मेरी तुम्हें यही सलाह है। तुम गीता पढ़ने की अपेक्षा फुटबाल के द्वारा स्वर्ग के अधिक समीप पहुँच सकोगे।''

निष्कर्ष

शिक्षा का भारतीय आदर्श मन का वह नियंत्रण है, जिससे हम उसे जहाँ चाहें ठीक वहीं लगा सकें। एकाग्रता की प्राप्ति उत्तम तो है, पर जब तक उसके साथ हममें अनासक्ति की भी शक्ति नहीं आती, तब तक सम्भव है कि वह हमें कठिनाइयों के आवर्त में डाल दे। स्वामीजी कहते हैं, ''तथ्यों के संग्रह को नहीं अपितु एकाग्रता को ही मैं शिक्षा का मूल समझता हूँ। यदि मुझे पुनः शिक्षा प्राप्त करनी होती, तो मैं एकाग्रता और अनासक्ति, दोनों की शक्तियों को विकसित करता और तब उस मन रूपी निर्दोश यंत्र की सहायता से इच्छामात्र से ही तथ्यों का संग्रह कर लेता।'' यहाँ पर पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली द्वारा योग–मनोविज्ञान के अनुशासनों का लाभदायक उपयोग किया जा सकता है।

अन्त में, यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि आधुनिक शैक्षणिक मनोविज्ञान की प्रणाली में शिशु के व्यक्तित्व के प्रति जो सम्मान का तथ्य पाया जाता है, वह अभी अभी प्रारम्भ हुआ है, जबकि भारतीय वेदान्त कल्पनातीत काल से इस तथ्य से परिचित था। उस समय शिक्षा यथासम्भव व्यक्तिपरक थी। सारा ज्ञान मनुष्य में निहित है। यही क्यों, एक बालक में भी समग्र ज्ञान प्रच्छन्न रूप से विद्यमान है। शिक्षक का कर्तव्य केवल इतना ही है कि वह उस प्रच्छन्न ज्ञान की अभिव्यक्ति की बाधाओं को दूर कर दे और अपने विद्यार्थियों को यह सिखा दे कि अपने हाथ, पैर, नेत्र और कानों का समुचित उपयोग करने के लिए वे किस प्रकार अपनी बुद्धि से काम लें।

भारतीय समाज में बौद्धिक वर्ग को एक सुविधापूर्ण स्थान प्राप्त है पर प्रत्येक सुविधा के साथ उत्तरदायित्व का भाव भी भरा हुआ है। इस संक्रान्ति और उतार–चढ़ाव की अवधि में ही भविष्य अपना रूप निर्मित करेगा। अतः इस देश के प्रत्येक स्त्री–पुरुश का यह पुनीत कर्तव्य हो जाता है कि वह आत्मविकास के लिए ज्ञान का अर्जन करे और उसका दान उन लोगों को भी दे, जिन्हें उसकी आवश्यकता है। कलियुग में दान को सर्वश्रेष्ठ धर्म की संज्ञा दी गई है। हम ज्ञान से भी मूल्यवान और किस वस्तु का दान कर सकते हैं? क्रियामूलक और सर्जनशील ज्ञान के दान से दाता और पात्र दोनों का ही उत्थान होता है। इसी दान के माध्यम से भारतवर्ष उस गौरवमय युग को प्राप्त कर सकता है, जिसके अवतरण की घोषणा स्वामी विवेकानन्द कर गए हैं।

संदर्भ सूची

1. सिंह, विजेन्द्रपाल (1974) *भारत राष्ट्रवाद तथा आर्यसमाज,* लोकतंत्र समीक्षा, नयी दिल्ली, पृ. 87–89।
2. धर, शैलेन्द्र नाथ (1976) *ए कम्प्रेहेन्सिव बायोग्राफी ऑफ स्वामी विवेकानन्द,* विवेकानन्द प्रकाशन केन्द्र, कोलकाता, पृ. 127–128।
3. पाण्डेय, रामशकल (2007) *शिक्षा के दार्शनिक सिद्धांत,* अग्रवाल प्रकाशन, आगरा– 2, पृ. 202–203।
4. सक्सेना, एन.आर. स्वरूप (2009) *शिक्षा के दार्शनिक एवं समाज शास्त्रीय सिद्धांत,* आर. लाल बुक डिपो, मेरठ, पृ. 154–155।
5. माथुर, सावित्री (2007) *शिक्षा दर्शन,* आस्था प्रकाशन, जयपुर, पृ. 84–89।

––==00==––